

चतुर्थोऽध्यायः
उपनयनविधिवर्णनम्
उपनयनविधि का वर्णन

सुमन्तुरुवाच

केशान्तः षोडशे वर्षे ब्राह्मणस्य विधीयते। राजन्यबन्धोर्द्वाविंशे वैश्यस्य त्र्यधिके ततः॥ १॥
अमन्त्रिका सदा कार्या स्त्रीणां चूडा महीपते। संस्कारहेतोः कायस्य यथाकालं विभागशः॥ २॥
वैवाहिको विधिः स्त्रीणां संस्कारो नैगमः स्मृतः। निवसेद्वा गुरोर्वापि गृहे वाग्निपरिक्रिया॥ ३॥
एष ते कथितो राजन्नौपनायनिको विधिः। द्विजातीनां महाबाहो उत्पत्तिव्यञ्जकः परः॥ ४॥

सुमन्तु कहते हैं- हे राजन्! ब्राह्मण का केशान्त सोलह वर्ष की आयु में करें। क्षत्रिय का २२ वर्ष की आयु में तथा वैश्य का २३ वर्ष की आयु में करने का नियम है। हे महापति! स्त्रीगण का चूड़ा संस्कार मन्त्र के बिना किया जाये। शरीर के संस्कारार्थ उन संस्कारों का यथाकाल विभाग किया गया है। स्त्रीगण का केवल विवाह संस्कार वेदानुमोदित है। उपनयन के पहले ब्रह्मचारी को गुरुगृह में निवास करना चाहिये अथवा वह अपने ही गृह में अग्निपरिक्रिया करे। हे राजन्! मैंने पहले ब्राह्मणादि का उपनयन संस्कार कहा है। हे महाबाहो! यह उपनयन द्विज के लिये उसके नये जन्म का व्यञ्जक है। (उपनयन से ही ब्रह्मचारी द्विज कहलाता है)॥ १-४॥

कर्मयोगमिदानीं ते कथयामि महाबल। उपनीय गुरुः शिष्यं प्रथमं शौचमादिशेत्॥ ५॥
आचारमग्निकार्यं च सन्ध्योपासनमेव च। अध्यापयेत्तु सच्छिष्यान्सदाचान्त उदङ्मुखः॥ ६॥
ब्रह्माञ्जलिकरो नित्यमध्याप्यो विजितेन्द्रियः। लघुवासास्तथैकाग्रः सुमना सुप्रतिष्ठितः॥ ७॥
ब्रह्मारम्भेऽवसाने च पादौ पूज्यौ गुरोः सदाः। संहत्य हस्तावध्येयं स हि ब्रह्माञ्जलिः स्मृतः॥ ८॥

हे महाबली! अब कर्मयोग प्रसंग सुनो! गुरु पहले उपनयन संस्कार करके तब उसे शौचाचार का उपदेश करे। फिर आचमन विधि, अग्निकार्य तथा सन्ध्योपासन का उपदेश करे। आचार्य को चाहिये कि सदैव उत्तर की ओर मुख करके तथा आचमन करके सच्छिष्यगण को पढ़ाये। शिष्य के लिये नियम है कि वह इन्द्रियों को वशीभूत करे तथा ब्रह्माञ्जलिबद्ध कर अध्ययनरत हो जाये। शिष्य लघुवस्त्रधारी रहे, एकाग्रमन तथा प्रसन्नमन रहे। दृढ़ता रखे। वेदाध्ययन के प्रारंभ में तथा समाप्ति पर गुरु का चरणवन्दन आवश्यक है। ब्रह्माञ्जलि हेतु दोनों हाथों को जोड़े रहना होगा॥ ५-८॥

व्यत्यस्तपाणिना कार्यमुपसङ्ग्रहणं गुरोः। सव्येन सव्यः स्पष्टव्यो दक्षिणेन तु दक्षिणः॥ ९॥
अध्येष्यमाणं तु गुरुर्नित्यकालमतन्द्रितः। अधीष्व भो इति ब्रूयाद्विरामोऽस्त्विति वारयेत्॥ १०॥
ब्रह्मणः प्रणवं कुर्यादादावन्ते च सर्वदा। स्रवत्यनोङ्कृतं पूर्वं परस्ताच्च विशीर्यते॥ ११॥
श्रूयतां चापि राजेन्द्र यथोङ्कारं द्विजोऽर्हति। प्राक्कूलान्पर्युपासीनः पवित्रैश्चैव पावितः॥ १२॥
प्राणायामैस्त्रिभिः पूतस्ततस्त्वोङ्कारमर्हति। उँकारलक्षणं चापि शृणुष्व कुरुनन्दन॥ १३॥

शिष्य को चाहिये कि प्रणाम करते समय अपनी दाहिनी हथेली से गुरु का दाहिना चरण तथा बायीं हथेली से उनका बायाँ चरण स्पर्श करे। पढ़ाने के प्रारंभ में गुरु आलस्यरहित होकर पाठ प्रारंभ करने का आदेश करे। पाठ समाप्ति पर गुरु ही पाठ बन्द करने हेतु आज्ञा प्रदान करें। वेदाध्ययन के प्रारंभ तथा समाप्ति के क्षण सदैव प्रणव का उच्चारण करें। अध्ययन करने से पूर्व प्रणव

का उच्चारण न करने पर पाठ व्यर्थ हो जाता है। समाप्ति पर प्रणव न कहने पर समस्त पाठ ही विशीर्ण हो जाता है। हे राजेन्द्र! ब्राह्मण को प्रणवोच्चारण की क्या आवश्यकता है? इसका उत्तर यह है— ब्राह्मण (द्विजगण) सुन्दर सरोवर अथवा नदी तट पर आसनासीन होकर मात्र ३ प्राणायाम से ही पवित्र होते हैं तभी यह ब्राह्मण के लिये आवश्यक है। हे कुरुनन्दन! अब ओंकार के लक्षण सुनें॥ ९-१३॥

अकारं चाप्युकारं च मकारं च प्रजापतिः। वेदत्रयात्तु निर्गृह्य भूर्भुवः स्वरितीति च॥ १४॥

त्रिभ्य एव तु वेदेभ्यः पादं पादमदूदहत्। तदित्युचोऽस्याः सावित्र्याः परमेष्ठी प्रजापतिः॥ १५॥

एतदक्षरमेतां च जपन्व्याहतिपूर्विकाम्। सन्ध्ययोरुभयोर्विप्रो वेद पुण्येन युज्यते॥ १६॥

सहस्रकृत्वस्त्वभ्यस्य बहिरेतत्त्रिकं द्विजः। महतोऽप्येनसो मासात्त्वचेवाहिर्विमुच्यते॥ १७॥

एतयर्चा विसंयुक्तः काले च क्रियया स्वया। विप्रक्षत्रियविड्योनिर्गर्हणां याति साधुषु॥ १८॥

प्रजापति ने तीनों वेदों से अ, उ तथा म को ग्रहण किया तथा भूः, भुवः और स्वः को लेकर तीनों वेदों से ही इनके एक-एक पाद का दोहन किया है। यही सावित्री की ३ ऋचायें हैं। उपर्युक्त अ, उ, म को व्याहतिपूर्व में जप करें जो दोनों सन्ध्याओं में किया जाये। ऐसा करके ब्राह्मण वेदाध्ययन का पुण्यार्जन करता है। बाहर एकान्तगामी होकर इस त्रिक का अर्थात् व्याहति के पूर्व प्रणव लगाकर १००० जप नित्य करने वाला ब्राह्मण १ मास में घोर पाप से मुक्त हो जाता है। जैसे सर्प अपने पुराने चर्म से (केंचुल) मुक्त होता है। जो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इस ऋचा से तथा अपनी क्रिया से विहीन हैं वे सत्पुरुषों से निन्दित होते हैं॥ १४-१८॥

शृणुध्वैकमनाराजन्परमं ब्रह्मणो मुखम्। ॐकारपूर्विकास्तिस्त्रोमहाव्याहृतयोऽव्ययाः॥ १९॥

त्रिपदा चैव सावित्री विज्ञेया ब्रह्मणो मुखम्। योऽधीतेऽहन्यहन्येतां त्रीणि वर्षाण्यतन्द्रितः॥ २०॥

स ब्रह्म परमभ्येति वायुभूतः खमूर्तिमान्। एकाक्षरं परं ब्रह्म प्राणायामः परन्तपः॥ २१॥

सावित्र्यास्तु परं नास्ति मौनात्सत्यं विशिष्यते। तपः क्रिया होमक्रिया तथा दानक्रिया नृप॥ २२॥

अक्षयान्ताः सदा राजन्यथाह भगवान्मनुः। अवरं त्वक्षरं ज्ञेयं ब्रह्मा चैव प्रजापतिः॥ २३॥

हे राजन्! आप संयत मन द्वारा यह सुनें कि ओंकार पूर्विका यह तीनों अव्यय महाव्याहति ब्रह्मा का परम मुख रूप है। यह त्रिपदा गायत्री ही ब्रह्मा का मुख है जो आलस्य छोड़कर तीन वर्षों तक नित्य इसका जप करता है वह वायुभूत तथा आकाशवत् मूर्तिमान् होकर परम ब्रह्म को प्राप्त करता है। यह एकाक्षर ओंकार परब्रह्मरूप है। प्राणायाम ही परम तप है। सावित्री से अधिक महिमा किसी की नहीं है। मौन की तुलना में सत्यभाषण ही विशेषतायुक्त है। हे राजन्! मनु का कथन है कि तप, होम तथा दान रूप क्रियाओं का फल अक्षय होता है॥ १९-२३॥

विधियज्ञात्सदा राजञ्जपयज्ञो विशिष्यते। नानाविधैर्गुणोद्देशैः सूक्ष्माख्यातैर्नृपोत्तम॥ २४॥

उपांशुः स्याल्लक्षगुणः सहस्रो मानसः स्मृतः। ये पाकयज्ञश्चत्वारो विधियज्ञेन चान्विताः॥ २५॥

सर्वे ते जपयज्ञस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम्। जपादेव तु संसिध्येद्ब्राह्मणो नात्र संशयः॥ २६॥

ये सभी प्रजापति ब्रह्मा के समान हैं। हे राजन्! हे नृपोत्तम! सविधि सम्पन्न किये गये यज्ञ की तुलना में जप यज्ञ विशिष्ट है। नानाविध गुण वाला उपांशुजप सूक्ष्म जप होने के कारण उच्चारणयुक्त जप की तुलना में लाखों गुणा अधिक फल देने वाला कहा गया है। इससे भी सहस्रगुणित फलप्रद है मानस जप। विविध यज्ञों वाले दर्शपूर्णमास आदि चतुर्विध पाकयज्ञ जपयज्ञ की तुलना में भी फल नहीं दे सकते। यह निःसन्दिग्ध है कि ब्राह्मण जप से सिद्धि प्राप्त करता है॥ २४-२६॥

कुर्यादन्त्यत्र वा कुर्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते। पूर्वा सन्ध्यां जपंस्तिष्ठेत्सावित्रीमार्कदर्शनात्॥ २७॥

पश्चिमां तु समासीनः सम्यगृक्षविभावनात्। दिनस्यादौ भवेत्पूर्वा शर्वर्यादौ तथा परा॥ २८॥

सनक्षत्रा परा ज्ञेया अपरा सदिवाकरा। जपंस्तिष्ठन्परां सन्ध्यां नैशमेनो व्यपोहति॥ २९॥

अपरां तु समासीनो मलं हन्ति दिवाकृतम्। नोपतिष्ठति यः पूर्वा नोपास्ते पश्चिमां नृप॥ ३०॥

स शूद्रवद्वहिष्कार्यः सर्वस्मादिद्वजकर्मणः। अपां समीपे नियतो नैत्यकं विधिमास्थितः॥ ३१॥

जो जप-यज्ञ में निरत है वह ब्राह्मण भले ही कोई अन्य कार्य (यज्ञ, होम आदि) न भी करे तब भी वह ब्राह्मण ही कहा जाता है। (ब्राह्मणमुहूर्त से लेकर) सूर्य का दर्शन होने तक पूर्वाभिमुख खड़े होकर गायत्री जप करें। सन्ध्या से लेकर नक्षत्रमण्डल के आकाश में उदित हो जाने तक आसन पर स्थित होकर जप करें। पूर्वसन्ध्या दिनारम्भ काल है। परसन्ध्या रात्रि के प्रारम्भ काल को कहते हैं। सायंकालीन सन्ध्या परसन्ध्या होती है। जब वह सनक्षत्रा होती है तब तक जप करें। पूर्वसन्ध्या ब्राह्मणमुहूर्त से सूर्योदयकाल तक ही होती है। अतः वह सदिवाकरा है। परसन्ध्या जप द्वारा रात्रिकृत पाप नष्ट होते हैं। यही परसन्ध्या भी है। पूर्वसन्ध्या को अपरा सन्ध्या कहते हैं। इसमें जप द्वारा दिनकृत पापों का नाश हो जाता है। हे नृप! इन उभय सन्ध्याकाल में जो ब्राह्मण जप नहीं करता अथवा उपासना नहीं करता है, वह शूद्रवत् है तथा द्विजाति के सभी अधिकारों से बहिष्कृत कर देने योग्य है। यह सन्ध्याकालीन उपासना जल के निकट नित्य नियम से विधिपूर्वक करें॥ २७-३१॥

सावित्रीमण्डपधीयत गत्वाऽरण्यं समाहितः। वेदोपकरणे राजन्स्वाध्याये चैव नैत्यके॥ ३२॥

नात्र दोषोऽस्त्यनध्याये होममन्त्रेषु वा विभो। नैत्यके नास्त्यनध्यायो ब्रह्मसत्रं हि तत्स्मृतम्॥ ३३॥

ब्रह्माहुतिहुतं पुण्यमनध्यायवषट्कृतम्। ऋगेकां यस्त्वधीयत विधिना नियतो द्विजः॥ ३४॥

तस्य नित्यं क्षरत्येषा पयो मेध्यं घृतं मधु। अग्निशुश्रूषणं भैक्षमधः शय्यां गुरोर्हितम्॥ ३५॥

आसमावर्तनात्कुर्यात्कृतोपनयनो द्विजः। आचार्यपुत्रशुश्रूषां ज्ञानदो धार्मिकः शुचिः॥ ३६॥

आप्तः शक्तोन्नदः साधुः स्वाध्याय्या दश धर्मतः। नापृष्टः कस्यचिद्बूयान्न चान्यायेन पृच्छतः॥ ३७॥

यह सावित्री उपासना अरण्य में समाहित चित्त से करें। हे राजन्! वेद में वर्णित नैतिक स्वाध्याय तथा हवन मन्त्र को ब्रह्मसत्र कहा गया है। इसमें अनध्यायजनित दोष नहीं लगता। ब्रह्मरूप वेदमन्त्रों का उच्चारण, मन्त्र के साथ आहुति, अनध्याय तिथि को छोड़कर अध्ययन तथा वषट्कार पुण्यप्रद है। जो द्विज नियमपूर्वक विधिवत् ऋचाओं का अध्ययन करता है, उसे इन ऋचाओं से ही दूध, घृत, मधु की प्राप्ति होती है। अग्नि शुश्रूषा, भिक्षाटन, भूमि पर शयन तथा गुरु का हितचिन्तन वह द्विज सदा करे जिसको उपनयन संस्कार के कारण द्विज संज्ञा प्राप्त है। यह कर्तव्यपालन समावर्तन संस्कार तक अवश्य करे। आचार्यपुत्र, सेवक, ज्ञान प्रदाता, धार्मिक व्यक्ति, पवित्र, यथार्थ बोलने वाला, (धारणा) शक्तियुक्त, अन्नदाता तथा साधु व्यक्ति को (इन दसों कों) धर्मतः अध्ययन कराये। जब कोई कुछ पूछता है, तभी बोलना चाहिये। अन्यायपूर्वक पूछे जाने पर भी कुछ बोलना उचित नहीं है॥ ३२-३७॥

जानन्नपि हि मेधावी जडवल्लोक आचरेत्। अधर्मेण च यः प्राह यश्चाधर्मेण पृच्छति॥ ३८॥

तयोरन्यतरः प्रैति विद्वेषं वा निगच्छति। धर्मार्थौ यत्र न स्यातां शुश्रूषा चापि तद्विधा॥

न तत्र विद्या वप्तव्या शुभं बीजमिवोषरे॥ ३९॥

विद्ययैव समं कामं मर्तव्यं ब्रह्मवादिना। आपद्यपि हि घोरायां न त्वेनामीरिणे वपेत्॥ ४०॥

विद्या ब्राह्मणमित्याह शेवधिस्तेऽस्मि रक्ष माम्। अयूयकाय मा प्रादास्तथा स्यां वीर्यवत्तमा॥ ४१॥

शेवं सुखमुशन्तीह केचिज्ज्ञानं प्रचक्षते। तौ धारयति वै यस्माच्छेवधिस्तेन सोच्यते॥ ४२॥

यमेव तु शुचिं विद्यान्नियतं ब्रह्मचारिणम्। तस्मै मां ब्रूहि विप्राय निधिपायाप्रमादिने॥ ४३॥

अन्यायपूर्वक पूछे जाने पर मेधावी व्यक्ति को वह बात जानते हुये भी जड़ की तरह मौन रह जाना चाहिये। इसका कारण यह है कि अधर्मयुक्त बोलने वाला तथा अधर्मतः पूछने वाला इनमें से एक मृत्यु को प्राप्त होता है अथवा उसे शत्रुता प्राप्त होती है। ऐसे शिष्यरूपी क्षेत्र में विद्यारूपी बीज का वपन नहीं करना चाहिये जो गुरु की यथोचित् सेवा न करे तथा गुरु को अर्थ प्रदान न करे। ब्रह्मज्ञ को चाहिये कि घोर आपत्ति आने पर भी अपात्र में विद्या बीज का वपन न करे। इससे अच्छा है कि स्वयं मर जाये। यह उक्ति है कि विद्या ने ब्राह्मण से यह कहा कि मेरी रक्षा करो, मैं तुम्हारा धन हूँ। जो गुणों में भी दोष देखे तथा दिखलाये, ऐसे व्यक्ति को मुझे न देना। यदि तुम मेरी बात मानोगे, तब मैं तुम्हारे लिये अत्यन्त वीर्यवती हो जाऊँगी। कतिपय विद्वान् शेव शब्द का अर्थ सुख कहते हैं, कुछ के अनुसार शेव का अर्थ है ज्ञान। इसलिये विद्या की ख्याति शेवधि के रूप है, क्योंकि यह सुख

एवं ज्ञान, इन दोनों को धारण करती है। विद्या ब्राह्मण से कहती है कि जो ब्रह्मचारी तुम्हारी दृष्टि में नियम वाला तथा पवित्र भाव एवं सदाचरण से युक्त हो वही सावधान चित्तवाला तथा विद्यारूपी निधि का यथार्थ रक्षक होगा। ऐसे ही ब्राह्मण को मुझे प्रदान करना॥३८-४३॥

ब्रह्म यस्त्वननुज्ञातमधीयानादवाप्नुयात्॥४४॥

लौकिकं वैदिकं वापि तथाध्यात्मिकमेव च। स याति नरकं घोरं रौरवं भीमदर्शनम्॥४५॥

अणुमात्रात्मकं देहं षोडशार्धमिति स्मृतम्। आददीत यतो ज्ञानं तं पूर्वमभिवादयेत्॥४६॥

सावित्रीसारमात्रोऽपि वरो विप्रः सुयन्त्रितः। नायन्त्रितस्त्रिवेदोऽपि सर्वाशी सर्वविक्रयी॥४७॥

जो बिना गुरु की आज्ञा के वेदज्ञान तथा लौकिक, वैदिक, आध्यात्मिक ज्ञान वेदाध्ययन द्वारा प्राप्त करता है, उसे घोर रौरव नरक में जाना ही होगा। यह अणुमात्रात्मक देह (जिसमें सूक्ष्मत्व भी है) आठ तत्त्वों से संगठित है। जिस व्यक्ति से ज्ञान की प्राप्ति की गयी है, उसका पहले अभिवादन करें। वह सावित्री ज्ञाता संयमी ब्राह्मण उस तीन वेदों के ज्ञाता ब्राह्मण से उत्तम है जो अनियन्त्रित चित्तवाला, सर्वभक्षी तथा सर्ववस्तु को बेचने वाला है॥४४-४७॥

शय्यासनेध्याचरिते श्रेयसा न समाविशेत्। शय्यासनस्थश्चैवेनं प्रत्युत्थायाभिवादयेत्॥४८॥

ऊर्ध्वं प्राणा ह्युत्क्रामन्ति यूनः स्थविर आगते। प्रत्युत्थानाभिवादाभ्यां पुनस्तान्प्रतिपद्यते॥४९॥

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः। चत्वारि सम्यग्वर्धन्ते आयुः प्रज्ञा यशो बलम्॥५०॥

जो शिष्य गुरु की उपस्थिति में उनके समक्ष शय्या एवं आसन पर आसीन होकर अध्ययनादि करता है, उसे श्रेय की प्राप्ति नहीं होती। यदि वह शिष्य पहले से ही शय्या आदि पर बैठा हो, तो गुरु के आते ही उठकर उनका अभिवादन करे। गुरुजनों के आने पर युवकगण के प्राण ऊर्ध्व में जाते हैं मानो बाहर निकल ही जायेंगे। शिष्य युवकगण गुरु का अभिवादन करके उसे पुनः प्राप्त कर लेते हैं। जो सर्वदा वृद्धों की सेवा करता है तथा उनके समक्ष आने पर उनके अभिवादनार्थ तत्पर रहता है, उसकी आयु, बुद्धि, यश, बल की वृद्धि होती है॥४८-५०॥

अभिवादपरो विप्रो ज्यायांसमभिवादयेत्। असौ नामाहमस्मीति स्वनाम परिकीर्तयेत्॥५१॥

नामधेयस्य ये केचिदभिवादं न जानते। तानप्राज्ञोऽहमिति ब्रूयात्स्त्रियः सर्वास्तथैव च॥५२॥

भोः शब्दं कीर्तयेदन्ते स्वस्य नाम्नोभिवादाने। नाम्नः स्वरूपभावो हि भो भाव ऋषिभिः स्मृतः॥५३॥

आयुष्मान्भव सौम्येति वाच्यो विप्रोऽभिवादाने। अकारश्चास्य नाम्नोऽन्ते वाच्यः पूर्वाक्षरः प्लुतः॥५४॥

गुरुजनों तथा वृद्धों को प्रणाम करने का नियम यह है कि उनको प्रणाम करने से पहले “मैं अमुक नामक व्यक्ति हूँ।” यह कहे तब अभिवादन करें। जो वृद्धजन अज्ञानतावश नामोच्चारण के साथ अभिवादन का अर्थ हृदयङ्गम न कर सकें, वे स्पष्टाक्षर में “मैं हूँ” कहते हुए अभिवादन करें। स्त्रीगण के साथ भी यही कहना चाहिये तब प्रणाम करना चाहिए। जब अपने नाम को कहकर प्रणाम किया जाये तब अन्त में “भो” लगायें। यथा — “असौ नाम (अपना नाम) अहमस्मि भो” कहे। “भो” शब्द ऋषियों के अनुसार नाम का ही स्वरूप है। अथवा नाम का स्वरूपभाव ही “भो भाव” है। यह ऋषिगण का कथन है। जब व्यक्ति अभिवादन करे तब ब्राह्मण “हे सौम्य! दीर्घायु हो” यह आशीर्वाद दे। ब्राह्मण उस व्यक्ति के नाम के अन्त में ‘अ’ का उच्चारण करे। नाम का पूर्वाक्षर प्लुत (त्रिमात्रिक) उच्चारित हो॥५१-५४॥

यो न वेत्यभिवादस्य विप्रः प्रत्यभिवादनम्। नाभिवाद्यः स विदुषा यथा शूद्रस्तथैव सः॥५५॥

अभिवादे कृते यस्तु न करोत्यभिवादनम्। आशीर्वा कुरुशार्दूल स याति नरकं ध्रुवम्॥५६॥

अभीति भगवान्विष्णुर्वादयामीति शङ्करः। द्वावेव पूजितौ तेन यः करोत्यभिवादनम्॥५७॥

ब्राह्मणं कुशलं पृच्छेत्क्षत्रबन्धुमनामयम्। वैश्यं क्षेमं समागम्य शूद्रमारोग्यमेव तु॥५८॥

जो ब्राह्मण अभिवादन का उत्तर नहीं देना जानता विद्वान् व्यक्ति उसका अभिवादन ही न करें, क्योंकि ऐसा ब्राह्मण शूद्र जैसा ही है। हे कुरुशार्दूल! ऐसा ब्राह्मण नरक प्राप्त करता है। “अभिवादयामि” से अभिवादन करने वाले से विष्णु तथा शंकर— ये

दोनों देवता पूजित हो जाते हैं अर्थात् अभि से भगवान् विष्णु तथा वादयामि से शंकर की पूजा सम्पन्न हो जाती है। ब्राह्मण का अभिवादन किये जाने पर वह ब्राह्मण अभिवादनकर्ता ब्राह्मण से उसकी कुशलता पूछे। जब अभिवादन करने वाला क्षत्रिय हो तब उसका स्वास्थ्य पूछे। जब अभिवादनकर्ता वैश्य हो तब उससे क्षेम तथा अभिवादनकर्ता के शूद्र होने पर उसका आरोग्य पूछे॥ ५५-५८॥

न वाच्यो दीक्षितो नाम्ना यवीयानपि यो भवेत्। भो भवत्पूर्वकत्वेन इति स्वायम्भुवोऽब्रवीत्॥ ५९॥
परपत्नी तु या राजन्नसम्बद्धा तु योनिः। वक्तव्या भवतीत्येवं सुभगे भगनीति च॥ ६०॥
पितृव्यान्मातुलान् राजञ्छ्वशुरानृत्विजो गुरुन्। असावहमिति ब्रूयात्प्रत्युत्थाय जघन्यजः॥ ६१॥
मातृष्वसा मातुलानी श्वशूरथ पितृष्वसा। सम्पूज्या गुरुपत्नी च समास्ता गुरुभार्यया॥ ६२॥
ज्येष्ठस्य भ्रातुर्या भार्या सवर्णाहन्यन्यपि। पूजयन्प्रयतो विप्रो याति विष्णुसदो नृप॥ ६३॥

यदि अपने से कनिष्ठ दीक्षित हो तथा स्वयं दीक्षित न हो तब अपने कनिष्ठ को बिना उसके नाम से सम्बोधित किये उसके प्रति आदर प्रदर्शित करते “भवत्” (आप) शब्द का प्रयोग करें। यह स्वायम्भुव मनु का कथन है। हे राजन्! परायी स्त्री जिसके साथ यौन सम्बन्ध न हो, उसे ‘भवति’ सुभगे अथवा भगिनी, आदि से ही सम्बोधित करें। हे राजन्! चाचा-मामा-श्वसुर, पुरोहित तथा गुरुजन के आने पर खड़ा हो जाये। “यह मैं हूँ” निवेदन करते प्रणाम करे, क्योंकि वह गुरुजनों के सामने कनिष्ठ ही है। मौसी, मामी, सास, बूआ तथा गुरुपत्नी, ये सब पूज्य हैं। हे राजन्! अपने सवर्ण ज्येष्ठ भ्राता की पत्नी का भी नित्य सत्कार करे। निश्चित रूप से ऐसा आचरण करने से वह विप्र विष्णुलोक प्राप्त करता है॥ ५९-६३॥

प्रवासादेत्य सम्पूज्या ज्ञातिसम्बन्धियोषितः। पितुर्या भगिनी राजन्मातुश्चापि विशाम्पते॥ ६४॥
आत्मनो भगिनी या च ज्येष्ठा कुरुकुलोद्बह। सदा स्वमातृवद्भक्तिमातिष्ठेद्भारतोत्तम॥ ६५॥
गरीयसी ततस्ताभ्यो माता ज्ञेया नराधिप। पुत्रमित्रभागिनेया द्रष्टव्या ह्यात्मना समाः॥ ६६॥
दशाब्दाख्यं पौरसंख्यं पञ्चाब्दाख्यं कलाभृताम्। अब्दपूर्वं श्रोत्रियाणां स्वल्पेनापि स्वयोनिषु॥ ६७॥

जब व्यक्ति प्रवास से लौटे तब स्वजातीय सम्बन्धी स्त्रीगण का भी आदर के साथ पूजनादि करे। हे राजन्! हे भरतकुलश्रेष्ठ! कुरुकुलनन्दन! पिता की भगिनी, माता की भगिनी, अपनी बड़ी बहन के साथ मातृवत् व्यवहार करे। लेकिन यह स्मरण रखे कि इन सबकी तुलना में माता का स्थान सर्वश्रेष्ठ है। हे नराधिप! पुत्र, मित्र तथा भांजे को सदा अपने ही समान समझें। एक ही ग्राम में जो निवास करते हैं उनके मध्य दस वर्ष में मित्रता हो जाती है। कलाजीवी के साथ पंचवर्षीय मित्रता कही जाती है। श्रोत्रियगण के साथ तीन वर्ष में ही मित्रता हो जाती है, लेकिन कुल वालों एवं परिवारजनों के साथ तो स्वल्पकाल में मित्रता हो जाती है॥ ६४-६७॥

ब्राह्मणं दशवर्षं च शतवर्षं च भूमिपम्। पितापुत्रौ विजानीयाद्ब्राह्मणस्तु तयोः पिता॥ ६८॥
इत्येवं क्षत्रियपिता वैश्यस्यापि पितामहः। प्रपितामहश्च शूद्रस्य प्रोक्तो विप्रो मनीषिभिः॥ ६९॥
वित्तं बन्धुर्वयः कर्म विद्या भवति पञ्चमी। एतानि मान्यस्थानानि गरीयो यद्यदुत्तरम्॥ ७०॥
पञ्चानां त्रिषु वर्गेषु भूयांसि गुणवन्ति च। यस्य स्युः सोऽत्र मानार्हः शूद्रोऽपि दशमीं गतः॥ ७१॥

दस वर्ष का ब्राह्मण बालक १०० वर्ष के क्षत्रिय के लिये पिता के समान है। यह १० वर्ष का ब्राह्मण बालक वैश्य का पितामह तथा शूद्र का प्रपितामह जैसा पूज्य है। यह मनीषीगण का मत है। किसी व्यक्ति के माननीय कहे जाने के ५ कारण हैं— धन, बन्धु, अवस्था, कर्म तथा विद्या। इनमें धन की अपेक्षा बन्धु, बन्धु की अपेक्षा अवस्था, अवस्था की अपेक्षा कर्म तथा कर्म की अपेक्षा विद्या श्रेष्ठ है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य— इन तीनों में जिसमें पाँचों गुण अधिक हों, वही सम्मानयोग्य कहा गया है। यदि शूद्र भी वयोवृद्ध है, तब वह भी सम्मान का पात्र है॥ ६८-७१॥

चक्रिणो दशमीस्थस्य रोगिणो भारिणः स्त्रियाः। स्नातकस्य तु राज्ञश्च पन्था देयो वरस्य च॥ ७२॥
एषां समागमे तात पूज्यौ स्नातकपार्थिवौ। आभ्यां समागमे राजन्स्नातको नृपमानभाक्॥ ७३॥

सुमन्तुरुवाच

जयोपजीवी यो विप्रः स महागुरुच्यते। अष्टादशपुराणानि रामस्य चरितं तथा॥ ८६॥
 विष्णुधर्मादयो धर्माः शिवधर्माश्च भारत। कार्ष्णं वेदं पञ्चमं तु यन्महाभारतं स्मृतम्॥ ८७॥
 श्रौता धर्माश्च राजेन्द्र नारदोक्ता महीपते। जयेति नाम एतेषां प्रवदन्ति मनीषिणः॥ ८८॥
 एवं विप्रकदम्बस्य धारकः प्रवरः स्मृतः। यस्त्वेतानि समस्तानि पुराणानीह विन्दति॥ ८९॥
 भारतं च महाबाहो स सर्वज्ञो मतो नृणाम्। तस्मात्स पूज्यो राजेन्द्र वर्णैर्विप्रादिभिः सदा॥ ९०॥

सुमन्तु कहते हैं- हे राजेन्द्र! 'जय' से जीविकोपार्जन करने वाला ही महागुरुरूप है। यह जय है अष्टादश पुराण, भगवान् राम का पुण्यचरित (रामायण), वैष्णव-शैव के धर्म, पंचम वेद महाभारत तथा नारद द्वारा वर्णित श्रौतधर्म पण्डितों द्वारा जय कहा गया है। जो इन सबको अर्थात् इन पुराणों, महाभारतादि को जान लेता है वह मनुष्यों का अध्यक्ष, नेतृत्व करने वाला, श्रेष्ठ पुरुष कहलाता है। वह सर्वज्ञ तथा पूज्य माना जाता है। हे राजेन्द्र! वह विप्रादि सर्ववर्ण पूज्य है॥ ८६-९०॥

किं त्वया न श्रुतं वाक्यं यदाह भगवान्विभुः। अल्पं वा बहु वा यस्य श्रुतस्योपकरोति यः॥
 तमपीह गुरुं विद्याच्छ्रुतोपक्रियया तया॥ ९१॥

ब्राह्मस्य जन्मनः कर्ता स्वधर्मस्य च शासिता। बालोऽपि विप्रो वृद्धस्य पिता भवति धर्मतः॥ ९२॥
 अध्यापयामास पितृञ्छिशुराङ्गिरसः कविः। पुत्रका इति होवाच ज्ञानेन परिगृह्य तान्॥ ९३॥
 ते तमर्थमपृच्छन्त देवानागतमन्यवः। देवाश्चैतान्समेत्योचुर्न्याय्यं वै शिशुरुक्तवान्॥ ९४॥
 अज्ञो भवति वै बालः पिता भवति मन्त्रदः। अज्ञं हि बालमित्याहुः पितेत्येव तु मन्त्रदम्॥ ९५॥
 पितामहेति जयदमित्यूचुस्ते दिवौकसः। जयो मन्त्रास्तथा वेदा देहमेकं त्रिधा कृतम्॥ ९६॥

क्या आपने वह कथन नहीं सुना जिसे भगवान् विभु ने कहा था? जो व्यक्ति किसी को तनिक अथवा अधिक वेदज्ञान प्रदान करके उस व्यक्ति का उपकार कर दे, वह इस लोक में उसका गुरु ही कहलायेगा, क्योंकि वह उस व्यक्ति को वेदज्ञान अधिगत कराने वाला है। ब्रह्मज्ञान देकर एक प्रकार से व्यक्ति का नव जन्म कराने वाला यदि स्वधर्म पालक विप्र बालक भी है, तब भी धर्म की दृष्टि से ऐसा बालक उस व्यक्ति का पिता स्वरूप है। आंगिरस कवि ऋषि ने तो शैशवकाल में ही पितृगण को ज्ञानोपदेश किया था। उन शिशु आंगिरस ने ज्ञान प्रदान काल में उन पितृगण को पुत्र शब्द से सम्बोधित भी किया था। इससे पितर क्षुब्ध हो गये तथा उन्होंने देवताओं से इसका कारण पूछा। तब उन सबसे देवगण ने कहा कि "इस शिशु ने आप सबको पुत्र शब्द से सम्बोधित करके कोई अनुचित कार्य नहीं किया। जो अज्ञ है (वह वयोवृद्ध होकर भी) वह बालक ही है। लेकिन यदि शिशु अथवा बालक मन्त्र का उपदेश देता है, तब वह पितातुल्य ही है। संसार में अज्ञ को बालक तथा मन्त्रदाता को पिता तथा जय (धर्मशास्त्रों) का उपदेशक पितामह कहा गया है।" यह तथ्य देवगण ने ही पितृगण को बतलाया। जय (धर्मशास्त्र), मन्त्र तथा वेद मानो एक ही धर्मरूप शरीर के मात्र जयरूप हैं॥ ९१-९६॥

नहायनैर्न पलितैर्न मित्रेण न बन्धुभिः। ऋषयश्चक्रिरे धर्मं योऽनूचानः स नो महान्॥ ९७॥
 ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च विशांपते। ज्येष्ठं वन्दन्ति राजेन्द्र सन्देहं शृणु वै यथा॥ ९८॥
 ज्ञानतो वीर्यतो राजन्धनतो जन्मतस्तथा। शीलतस्तु प्रधाना ये ते प्रधाना मता मम॥ ९९॥
 न तेन स्थविरो भवति येनास्य पलितं शिरः। यो वै युवाप्यधीयानस्तं देवाः स्थविरं विदुः॥ १००॥

ऋषियों द्वारा प्रतिपादित धर्म व्यवस्था में यह कहीं नहीं है कि अधिक आयु होने से, बालों के सफेद हो जाने से अथवा बन्धु होने से कोई महान् है। अपितु जो षडङ्ग वेद का अधिकारी तथा प्रवक्ता है, वह सबसे महान् है। हे राजेन्द्र! चारों वर्णों में जो ज्येष्ठ है, वह सुनें। ब्राह्मण ज्ञानज्येष्ठ होने से, क्षत्रिय पराक्रम ज्येष्ठ होने से, वैश्य धनी होने से तथा शूद्र शील से ज्येष्ठ है। यह मेरा मत है। सिर के केश पक जाने मात्र से कोई (ज्ञान) वृद्ध नहीं हो जाता। यदि कोई युवा है तथापि अध्ययनशील है, वह वृद्ध है। देवगण उसे ही वृद्ध मानते हैं॥ ९७-१००॥

यथा काष्ठमयो हस्ती यथा चर्ममयो मृगः। यश्च विप्रोऽनधीयानस्त्रयस्ते नाम बिभ्रति॥ १०१॥
 यथा योषाऽफला स्त्रीषु यथा गौर्गवि चाफला। यथा चाज्ञेऽफलं दानं यथा विप्रोऽनृचोऽफलः॥ १०२॥
 वैश्वदेवेन ये हीना आतिथ्येन विवर्जिताः। सर्वे तु वृषला ज्ञेयाः प्राप्तवेदा अपि द्विजाः॥ १०३॥

जैसे काष्ठनिर्मित हाथी अथवा चर्मनिर्मित मृग केवल नाममात्र का हाथी तथा मृग है, उसी प्रकार से अध्ययनरहित ब्राह्मण भी केवल नाम का ही ब्राह्मण है। जैसे स्त्री नपुंसक के साथ रहकर भी सन्तानोत्पत्ति नहीं कर सकती, जैसे वन्ध्या गौ गोयूथ में रहकर भी निष्फल है, तदनुरूप मूर्ख को दान प्रदान करना भी विफल है। इसी तरह से वेदविहीन ब्राह्मण भी व्यर्थ ही हैं। इसी प्रकार वे द्विज भी शूद्र ही हैं जो अतिथि सत्कार नहीं करते, अथवा बलिवैश्वदेव यज्ञ नहीं करते॥ १०१-१०३॥

नानृग्ब्राह्मणो भवति न वणिङ्गन कुशीलवः। न शूद्रः प्रेषणं कुर्वन्नस्तेनो न चिकित्सकः॥ १०४॥
 अत्रता ह्यनधीयाना यत्र भैक्षचरा द्विजाः। तं ग्रामं दण्डयेद्वाजा चोरभक्तप्रदो हि सः॥ १०५॥
 सन्तुष्टो यत्र वै विप्रः साग्निकः कुरुनन्दन। याति साफल्यतां वेदैर्देवैरेवं हि भाषितम्॥ १०६॥
 वेदैरुक्तं यथा वीर सुरज्येष्ठमुपेत्य वै। वेपन्ते ब्राह्मणा भूमावभ्यस्यन्ति ह्यनग्निकाः॥
 क्लिश्यन्ते ते किमर्थं हि मूढा वै फलकांक्षया॥ १०७॥

अनुष्ठानविहीनानामस्मानभ्यसतां भुवि। क्लेशो हि केवलं देव नास्मदभ्यसने फलम्॥ १०८॥

जो वेदज्ञानरहित ब्राह्मण है, वह यथार्थतः ब्राह्मण ही नहीं है। इसी प्रकार वणिक्, नट तथा कत्थक वृत्ति से जीविकोपार्जन करने वाला, अन्य की सेवा में लगा, शूद्रोचित व्यापार करने वाला तथा चिकित्सक भी ब्राह्मण जाति का होने पर भी ब्राह्मण नहीं कहला सकता। जिस ग्राम में व्रतरहित, अध्ययनरहित, भिक्षाचारी द्विज रहते हों, उस ग्राम को राजा द्वारा अर्थदण्ड से दण्डित किया जाना चाहिये। वह ग्राम चोरी को प्रश्रय देने वाला ग्राम है। हे कुरुनन्दन! जहाँ जिस ग्राम के ब्राह्मण सन्तुष्ट तथा साग्निक हैं, वहाँ की सफलता तो वेदों से हो जाती है। यह देवगण की उक्ति है। हे वीर! वेदों द्वारा देवप्रवर पितामह ब्रह्मा से यही निवेदन किया गया था। इस धरा पर ब्राह्मणों के दुःख का मुख्य कारण यह है कि यहाँ जो आग्निक नहीं हैं, वे भी वेदाभ्यास करते हैं। वे मूर्ख वेद से फल की आकांक्षा में श्रम व्यर्थ करके कष्ट उठाते हैं, क्योंकि निरग्निक को वेद फलदायक नहीं होते। अनुष्ठानरहित के लिये वेद फलदायक होते ही नहीं। केवल वेदाभ्यास से क्या मिलना है? जब उसमें कहे अनुष्ठान को न किया जाये॥ १०४-१०८॥

अनुष्ठानं परं देवमस्मत्त्वभ्यसनात्सदा। इत्येवं राजशार्दूल वेदा ऊचुर्हि वेधसम्॥

तस्माच्च वेदाभ्यसनादनुष्ठानं परं मतम्॥ १०९॥

चत्वारो वा त्रयो वापि यद्ब्रूयुर्वेदपारगाः। स धर्म इति विज्ञेयो नेतरेषां सहस्रशः॥ ११०॥
 यद्वदन्ति तमोमूढा मूर्खा धर्ममजानतः। तत्पापं शतधा भूत्वा वक्तृन्वानुगच्छति॥ १११॥
 शौचहीने व्रतभ्रष्टे विप्रे वेदविवर्जिते। दीयमानं रुद्रत्यन्नं किं मया दुष्कृतं कृतम्॥ ११२॥
 जपोपजीविने दत्तं यदात्मानं प्रपश्यति। नृत्यति स्म तदाराजन्कराबुद्धृत्य भारत॥ ११३॥

हे देव! सर्वदा वेदाभ्यास करते रहने की तुलना में उसमें वर्णित क्रियानुष्ठान ही महत्त्वपूर्ण होता है। हे राजसिंह! भगवान् ब्रह्मदेव से वेदों ने यही कहा था। अतः वेदाभ्यास करने से उत्तम है वेदोक्त सद् अनुष्ठानों को करना, यही मेरा भी मत है। यदि वेदपारंगत विद्वान् गिनती में दो या तीन हों तथा वे कुछ अनुष्ठान करें जैसा वेद में कहा गया है, तब यही महत्त्वपूर्ण है। यदि सहस्रों ऐसे लोग जो वेद के अधिकारी न होकर भी व्यवस्था प्रदान करते हैं, वह व्यवस्था कदापि धर्म नहीं है। ऐसे धर्म-माहात्म्य को न जानने वाले मूढ़जन धर्म के सम्बन्ध में कुछ कहते हैं तब वही कही गयी बात सैकड़ों पापों का रूप धारण करके उसी व्यक्ति का अनुगमन करती रहती है। वेदरहित, शौचाचाररहित, व्रतनियमादि से रहित जो भ्रष्ट ब्राह्मण है, उसे जो अन्नदान किया जाता है, वह यह रुदन करता है कि “मेरा ऐसा कौन सा दुष्कर्म है जो इस पापी के पास हूँ।” हे भारत! जब अन्न यह देखता है कि उसे जप से जीविका चलाने वाले को प्रदान किया गया है, तब वह प्रसन्न होकर मानो अपने हाथों को ऊपर करके नृत्य करने लगता है॥ १०९-११३॥

विद्यातपोभ्यां सम्पन्ने ब्राह्मणे गृहमागते। क्रीडन्त्यौषधयः सर्वा यास्यामः परमां गतिम् ॥ ११४ ॥
 अत्रतानाममन्त्राणामजपानां च भारत। प्रतिग्रहो न दातव्यो न शिलातारयेच्छिलाम् ॥ ११५ ॥
 श्रोत्रियायैव देयानि हव्यकाव्यानि नित्यशः। अश्रोत्रियाय दत्तानि न पितृनापि देवताः ॥ ११६ ॥
 यस्य चैव गृहे मूर्खो दूरे चापि बहुश्रुतः। बहुश्रुताय दातव्यं नास्ति मूर्खव्यतिक्रमः ॥ ११७ ॥
 ब्राह्मणातिक्रमो नास्ति मूर्खे जपविवर्जिते। ज्वलन्तमग्निमुत्सृज्य न हि भस्मनि हूयते ॥ ११८ ॥
 न चैतदेव मन्यन्ते पितरो देवतास्तथा। सगुणं निर्गुणं वापि ब्राह्मणं दैवतं परम् ॥ ११९ ॥

हे राजन्! जब तपस्या एवं विद्या से सम्पन्न ब्राह्मण के घर में (दान किया) अन्न आता है तब सभी अन्नादिरूप ओषधियाँ प्रसन्नता से क्रीड़ात हो जाती हैं कि अब हमें परमगति की प्राप्ति होगी। हे भारत! व्रत, नियम, मन्त्र, जप से रहित को कभी दान न करें। कारण यह है कि एक पत्थर दूसरे पत्थर को नदी से पार नहीं उतार सकता। हव्य तथा कव्य श्रोत्रिय को ही प्रदान करें। अश्रोत्रिय को प्रदत्त अन्न न तो पितरों को जाता है न देवताओं को मिलता है। जिस गृह के पास मूर्ख भरे हैं तथापि बहुश्रुत विद्वान् अश्रोत्रिय को प्रदत्त अन्न न तो पितरों को जाता है न देवताओं को मिलता है। जिस गृह के पास मूर्ख भरे हैं तथापि बहुश्रुत विद्वान् सुदूरवर्ती हैं, वहाँ नियम है कि बहुश्रुत को ही बुलाकर दान प्रदान करें। इससे मूर्ख का व्यतिक्रम कदापि नहीं होता। जपरहित मूर्ख द्वारा दान न देने से व्यतिक्रम कदापि नहीं होता। यह उसी प्रकार है कि राख में आहुति देने का कोई फल नहीं है। ज्वलन्त ब्राह्मण को दान न देने से व्यतिक्रम कदापि नहीं होता। यह उसी प्रकार है कि राख में आहुति देने का कोई फल नहीं है। ज्वलन्त अग्नि में ही आहुति प्रदान करें। पितृगण तथा देवगण की दृष्टि में मूर्ख को प्रदत्त दान प्रशस्त नहीं माना जाता। जो यज्ञ ब्राह्मण द्वारा सम्पन्न होता हो, वहाँ पास के ब्राह्मण को (श्रोत्रिय) कभी छोड़कर अन्य से कार्य न कराये ॥ ११४-११९ ॥

नातिक्रमेद्गृहासीनं ब्राह्मणं विप्रकर्मणि। अतिक्रमन्महाबाहो रौरवं याति भारत ॥ १२० ॥
 गायत्रीमात्रसरोऽपि ब्राह्मणः पूज्यतां गतः। गृहासन्नो विशेषेण न भवेत्पतितस्तु सः ॥ १२१ ॥
 धान्यशून्यो यथा ग्रामो यथा कूपश्च निर्जलः। ब्राह्मणश्चानधीयानस्त्रयस्ते नामधारकाः ॥ १२२ ॥
 यस्त्वेकपङ्क्त्यां विषमं ददाति स्नेहाद्भयाद्वा यदि वार्थहेतोः।
 वेदेषु दृष्टमृषिभिश्च गीतं तां ब्रह्महत्यां मुनयो वदन्ति ॥ १२३ ॥

ऐसे ब्राह्मण का व्यतिक्रम न करो। हे महाबाहो! हे भारत! ऐसे (निकटस्थ) श्रोत्रिय ब्राह्मण का अतिक्रमण करके जो दूरवर्ती ब्राह्मण से अनुष्ठान, यज्ञादि शुभकार्य सम्पन्न कराता है, वह रौरव नरक में पतित होता है। यदि निकटस्थ ब्राह्मण केवल गायत्री ही जानता हो, तब भी वह पूज्य है। जो ग्राम अन्नरहित है, जो कूप जलरहित है तथा जो ब्राह्मण वेदाध्ययनरहित है, वह ग्राम, वह कूप तथा वह ब्राह्मण केवल नामधारी ही है। जो यजमान एक ही पंक्ति में बैठे ब्राह्मणों में भेद करता है, अर्थात् स्वार्थ से, भय से अथवा स्नेह से वशीभूत होकर समान दान नहीं करता, उसे ब्रह्मघात का पाप लगता है। यही ऋषि, मुनि तथा वेद की व्यवस्था है ॥ १२०-१२३ ॥

अहिंसयैव भूतानां कार्यं श्रेयोऽनुशासनम्। वाक्चैव मधुरा श्लक्ष्णा प्रयोज्या धर्ममीप्सता ॥ १२४ ॥
 यस्य वाङ्मनसी शुद्धे सत्यगुप्ते च भारत। स वै सर्वमवाप्नोति वेदान्तोपगतं फलम् ॥ १२५ ॥
 नारुन्तुदः स्यादार्तोऽपि न परद्रोहकर्मधीः। ययास्यो द्विजते लोको न तां वाचमुदीरयेत् ॥ १२६ ॥
 यत्करोति शुभं वाचा प्रोच्यमाना मनीषिभिः। श्रूयतां कुरुशार्दूल सदा चापि तथोच्यताम् ॥ १२७ ॥

धर्म की इच्छा रखने वाला व्यक्ति सभी प्राणिगण के कल्याण की भावना से अनुशासित तथा अहिंसक रूप से कार्यान्वयन करे। सबके प्रति मधुर एवं प्रियकर वाणी बोलनी चाहिये। हे भारत! जिस व्यक्ति का मन तथा वचन शुद्ध सत्य से रक्षित है, वह वेदान्तोक्त समस्त फल प्राप्त करता है। आर्त की भावना को आहत न करें। अन्य से द्रोह के लिये सोचें तक नहीं। ऐसी वाणी कदापि न बोलें जिससे किसी की भावना आहत हो। अन्य से द्रोह का विचार नहीं करें। हे कुरुशार्दूल! जो व्यक्ति मनीषी विद्वानों जैसे मधुर वचन का प्रयोग करते हैं तथा जो यज्ञादि शुभकार्य सम्पन्न करते हैं, उनका अनुकरण करके वैसी ही वाणी का प्रयोग करना चाहिये ॥ १२४-१२७ ॥

न तथा शशी न सलिलं न चन्दनरसो न शीतलच्छाया।

प्रह्लादयति च पुरुषं यथा मधुरभाषिणी वाणी॥१२८॥

अहर्णाद्ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव। अमृतस्येव चाकांक्षेदपमानस्य सर्वदा॥१२९॥

सुखं ह्यवमतः शेते सुखं च प्रतिबुध्यते। सुखं चरति लोकेस्मिन्नवमन्ता विनश्यति॥१३०॥

चन्द्रमा, जल, चन्दन का रस, शीतल सुखप्रद छाया से व्यक्ति उतना प्रसन्न नहीं होता जितना मधुर वाणी से प्रसन्न होता है। हे कुरुशार्दूल! लेकिन ब्राह्मण सतत सम्मान तथा प्रतिष्ठा से विषवत् उद्विग्न रहे। वह अपमान की आकांक्षा ऐसे करे जैसे अमृत की आकांक्षा की जाती है। यद्यपि अपमान करने वाला इस लोक में नाश को प्राप्त होता है, परन्तु अपमानित व्यक्ति सुख से सीता तथा जागता है। अपना कार्य सुखपूर्वक सम्पन्न करता है॥१२८-१३०॥

अनेन विधिना राजन्संस्कृतात्मा द्विजः शनैः। गुरौ वसन्सेचिनुयाद्ब्रह्माधिगमिदं तपः॥१३१॥

तपोविशेषैर्विविधैर्व्रतैश्च विविधोदितैः। वेदः कृत्स्नोधिगन्तव्यः सरहस्यो द्विजन्मना॥१३२॥

वेदमेवाभ्यसेन्नित्यं तपस्तप्यं द्विजोत्तमः। वेदाभ्यासो हि विप्रस्य तपः परमिहोच्यते॥१३३॥

आहैव स नखाग्रेभ्यः परमं तप्यते तपः। यः सुप्तोऽपि द्विजोऽधीते स्वाध्यायं शक्तितोऽन्वहम्॥१३४॥

योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्। स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः॥१३५॥

हे राजन्! इस प्रकार से शनैः-शनैः आत्मा को संस्कृत करके गुरु के आश्रम में रहकर ऐसे तप का आचरण करना चाहिये जो ब्रह्म को प्राप्त करा सके। अनेक प्रकार के व्रत का आचरण करते हुए द्विज रहस्यों के साथ समस्त वेदों का अध्ययन करे। द्विजोत्तम को चाहिये कि वह सदैव तप का विधान से पालन करते-करते वेदाभ्यास में लगा रहे। वेदाभ्यास ही विप्र हेतु परमतपरूप है। जो ब्राह्मण सुप्तावस्था में भी स्वशक्ति के अनुसार नित्य स्वाध्याय करता है, वह नख से लेकर समस्त शरीर पर्यन्त, परम तपस्या में रत कहा गया है। जो ब्राह्मण वेदाध्ययन न करके अन्य कार्यों में श्रम करता है, वह जीवितावस्था में ही सपरिवार शूद्रत्व का भागी हो जाता है॥१३१-१३५॥

न यस्य वेदो न जपो न विद्याश्च विशाम्पते। स शूद्र एव मन्तव्य इत्याह भगवान्विभुः॥१३६॥

मातुरग्रे च जननं द्वितीयो मौञ्जीबन्धनम्। तृतीयो यज्ञदीक्षायां द्विजस्य विधिरीरितः॥१३७॥

तत्र यद्ब्रह्म जन्मास्य मौञ्जीबन्धनचिह्नितम्॥१३८॥

तत्रास्य माता सावित्री पिता त्वाचार्य उच्यते। वेदप्रदानात्त्वाचार्यं पितरं मनुरब्रवीत्॥१३९॥

न ह्यस्य विद्यते कर्म किञ्चिदामौञ्जिबन्धनात्। नाभिव्याहारयेद्ब्रह्म स्वधानिनयनादृते॥१४०॥

शूद्रेण तु समं तावद्यावद्वेदे न जायते। कृतोपनयनस्यास्य व्रतादेशनमिष्यते॥

ब्रह्मणो ग्रहणं चैव क्रमेण विधिपूर्वकम्॥१४१॥

यत्सूत्रं चापि यच्चर्म या या चास्य च मेखला। वसनं चापि यो दण्डस्तद्वै तस्य व्रतेष्वपि॥१४२॥

हे राजन्! जो ब्राह्मण जप-वेद-विद्या से रहित है वह तो शूद्र ही है, यह भगवान् का वचन है। ब्राह्मण के तीन जन्म होते हैं। पहला जन्म मातृगर्भ से, द्वितीय यज्ञोपवीत संस्कार से एवं तृतीय यज्ञदीक्षा से कहा गया है। उपनयन संस्कार का महत्व व्यक्ति के द्वितीय जन्म से है जब उसका यज्ञोपवीत (मौञ्जीबन्धन) संस्कार होता है। उस समय उसकी माता हैं सावित्री, पिता हैं आचार्य। आचार्य शिष्य को वेददान करते हैं तभी मनु के अनुसार आचार्य ही पिता हैं। यज्ञोपवीत के पूर्व ब्राह्मण को किसी भी वैदिक एवं स्मार्त कर्म करने का अधिकार नहीं होता। जब तक स्वधा कहने का अधिकार न मिले (यज्ञोपवीत न हो जाये) तब तक वेदोच्चारण न करे। इस प्रकार जब तक यज्ञोपवीत संस्कार द्वारा वेदाधिकार नहीं मिल जाता, तब तक बालक शूद्र ही है। जब उसका उपनयन हो जाये, तब उसे सभी कर्मों को करने का अधिकार मिलता है। फिर विधिवत् वह वेदाध्ययन करे। यज्ञोपवीत संस्कार के समय उसे जो सूत्र, चर्म, मेखला, वस्त्र तथा दण्ड धारण कराते हैं, वही वेदाध्ययन के समय भी रहे॥१३६-१४२॥

सेवेते मांस्तु नियमान्ब्रह्मचारी गुरौ वसन्। सन्नियम्येन्द्रियग्रामं तपोवृद्धयर्थमात्मनः॥ १४३॥
 वृन्दारकर्विपितृणां कुर्यात्तर्पणमेव हि। नराणां च महाबाहो नित्यं स्नात्वा प्रयत्नतः॥ १४४॥
 पुष्पं तोयं फलं चापि समिदाधानमेव च। नानाविधानि काष्ठानि मृत्तिकां च तथा कुशान्॥ १४५॥
 वर्जयेन्मधु मांसं च गन्धमाल्यरथान्निव्रजः। शुक्लानि चैव सर्वाणि प्राणिनां चैव हिंसनम्॥ १४६॥
 अभ्यङ्गमञ्जनं चाक्षणोरुपानच्छत्रधारणम्। संकल्पं कामजं क्रोधं लोभं गीतं च वादनम्॥ १४७॥

ब्रह्मचारी गुरु के समीप रहते हुए उपरोक्त नियमों का पालन करता रहे। तप! शक्ति की वृद्धि हेतु वह अपनी इन्द्रियों को वश में रखे। हे महाबाहु! सर्वदा देवगण, ऋषि, पितृगण, मनुष्यों को स्नानोपरान्त ही पितृतर्पण करना चाहिये। पुष्प, जल, समिधा, अनेक काष्ठ, मिट्टी, कुश का संचय करके रखें। जब तक नियम का पालन करते रहना हो तब तक वह मधु, मांस, चन्दन, माला, वाहनादि, स्त्री, सभी श्वेत वस्तु, प्राणि हिंसा से दूर रहे। हे विभु! अंजन, अभ्यङ्ग, जूता पहनना, छाता, कामजनित संकल्प, क्रोध, लोभ, गीत, वाद्य, को ब्रह्मचारी दूर से त्याग दे॥ १४३-१४७॥

नर्तनं च तथा द्यूतं जनवादं तथानृतम्। परिवादं चापि विभो दूरतः परिवर्जयेत्॥ १४८॥
 स्त्रीणां च प्रेक्षणालम्बोरपवीतं परस्य च। पुंश्चलीभिस्तथा सङ्गं न कुर्यात्कुरुनन्दन॥ १४९॥
 एकः शयीत सर्वत्र न रेतः स्कन्दयेत्क्वचित्। कामाद्धि स्कन्दयन्नेतो हिनस्ति व्रतमेव तु॥ १५०॥
 सुप्तः क्षरन्ब्रह्मचारी द्विजः शुक्रमकामतः। स्नात्वा कर्मचर्यित्वा तु पुनर्मामित्यृचं जपेत्॥ १५१॥
 मनोरपि तथा चात्र श्रूयते परमं वचः। उदकुम्भं सुमनसो गोशकृन्मृत्तिकां कुशान्॥
 आहरेद्यावदर्थान् हि भैक्षं चापि हि नित्यशः॥ १५२॥

ब्रह्मचारी नृत्य, द्यूतक्रीड़ा, असत्यप्रचार, मिथ्याभाषण, परनिन्दा से बचे। वह स्त्रीगण की ओर न देखे, स्त्रीगण का आलिंगन, अन्य का अपकार, पुंश्चली स्त्री का साथ न करे। वह कदापि वीर्यपात न करे। अकेले शयन करे। कामवश वीर्य का क्षरण करने पर उसका अपना ही व्रत नष्ट होता है। यदि शयनकाल में ब्रह्मचारी का वीर्यक्षरण (स्वप्नदोषादि से) बिना कामक्रिया के ही हो जाये तब स्नानोपरान्त सूर्य पूजन करके “पुनर्माम्” ऋचा का तीन बार जप करना उचित एवं विहित कहा गया है। ब्रह्मचारीगण के व्रत हेतु तथा नियम हेतु मनु ने भी अपने बहुमूल्य वचन कहे हैं। ब्रह्मचारीगण को चाहिये कि वे जल कलश, पुष्प, गोबर, मृत्तिका, कुश आदि स्वशक्ति के अनुरूप नित्य-प्रति एकत्र करे। भिक्षा माँग कर जीवन निर्वहन करें॥ १४८-१५२॥

गृहेषु येषां कर्तव्यं ताञ्छृणुष्व नृपोत्तम। स्वकर्मसु रता ये वै तथा वेदेषु ये रताः॥

यज्ञेषु चापि राजेन्द्र ये च श्रद्धासमाश्रिताः॥ १५३॥

ब्रह्मचार्याहरेद्भैक्षं गृहेभ्यः प्रयतोऽन्वहम्। गुरोः कुले न भिक्षेत स्वज्ञातिकुलबन्धुषु॥ १५४॥

अलाभे त्वन्यगोत्राणां पूर्वं पूर्वं विवर्जयेत्। सर्वं चापि चरेद्ग्रामं पूर्वोक्तानामसम्भवे॥

अन्त्यवर्जं महाबाहो इत्याह भगवान्विभुः॥ १५५॥

हे नृपोत्तम! ब्रह्मचारी के लिये भिक्षाटनार्थ स्थान का भी निरूपण किया गया है। हे राजेन्द्र! जो स्वकर्म में तत्पर हों, वेद के प्रति आस्थावान् हों, यज्ञादि कर्ता यथा श्रद्धावान् हों, उनके यहाँ से ही ब्रह्मचारीगण भिक्षाटन करें। नित्यप्रति चित्त तथा इन्द्रियगण का निरोध किये रहे तथा ऐसे ही गृहस्थों के यहाँ से भिक्षाटन करे। गुरु के यहाँ तथा परिवारजन के यहाँ से भिक्षा याचना नहीं करे। यदि अन्यत्र भिक्षा न मिले तब पहले स्वकर्म तत्पर के यहाँ से, वहाँ न मिले तब वेद के प्रति आस्थावान् से, वहाँ भी न मिले तथा यज्ञकर्ता तथा श्रद्धावान् के यहाँ भिक्षाटन करना चाहिये। हे महाबाहो! यदि भिक्षा अन्यत्र भी मिल सकना असंभव हो जाये तब ग्राम के कहीं से भी भिक्षाटन किया जा सकता है, तथापि शूद्र के यहाँ भिक्षाटन वर्जित है। यह भगवान् का वचन है॥ १५३-१५५॥

वाचं नियम्य प्रयतस्त्वग्निं शस्त्रं च वर्जयेत्। चातुर्वर्ण्यं चरेद्भैक्षमलाभे कुरुनन्दन॥ १५६॥

आरादाहृत्य समिधः सन्निध्याद् गृहोपरि। सायंप्रातस्तु जुहुयात्ताभिरग्निमतन्द्रितः॥ १५७॥

भैक्षचरणमकृत्वा न तमग्निं समिध्य वै। अनातुरः सप्तरात्रमवकीर्णव्रतं चरेत्॥ १५८॥
वर्तनं चास्य भैक्षेण प्रवदन्ति मनीषिणः। तस्माद्भैक्षेण वै नित्यं नैकात्रादी भवेद्व्रती॥ १५९॥
भैक्षेण व्रतिनो वृत्तिरुपवाससमा स्मृता। दैवत्ये व्रतवद्राजन्पित्र्ये कर्मण्यथर्विवत्॥
काममभ्यर्थितोऽग्नीयाद्व्रतमस्य न लुप्यते॥ १६०॥

ब्रह्मचारी मन, इन्द्रिय तथा वाणी को नियन्त्रण में रखे। वह स्वकार्यार्थ अग्नि एवं शस्त्र प्रयोग न करे। हे कुरुनन्दन! यदि कहीं भिक्षा न मिले तब ब्रह्मचारी चारों वर्ण वाले में से किसी से भी भिक्षा ले सकता है। वह सुदूरवर्ती वन प्रान्तर से समिधायें लाकर अपनी कुटिया पर रखे तथा नित्य सायं-प्रातः उन समिधा से निरालस्य संयतमन से होम करे। जो ब्रह्मचारी भिक्षाटन तथा अग्नि में होम नहीं करता, वह इन नैतिक कर्मों को न करने के पाप का प्रायश्चित्त सात रात्री तक सुस्थिर तथा अनातुर होकर करे। ब्रह्मचारी हेतु जीविका का साधन भिक्षाटन ही कहा गया है। वह सर्वदा भिक्षा से ही जीवन निर्वहन करे क्योंकि यदि वह एक ही का अन्न भक्षण करता है, तब वह व्रती है ही नहीं। भिक्षाजीवी ब्रह्मचारी का यह भोजन भी उपवासवत् है। हे राजन्! नियम यह है कि जैसे देवकर्म में व्रताचार है उसी प्रकार पितृकर्म में भी ऋषिगणवत् व्यवहार करें। यदि कोई अत्यन्त आग्रह करता है तब उसका भोजन ग्रहण करे। इससे व्रत भंग नहीं होगा॥ १५६-१६०॥

ब्राह्मणस्य महाबाहो कर्म यत्समुदाहृतम्। राजन्यवैश्ययोर्नैतत्पण्डितैः कुरुनन्दन॥ १६१॥
चोदितोऽचोदितो वापि गुरुणा नित्यमेव हि। कुर्यादध्ययने योगमाचार्यस्य हितेषु च॥ १६२॥
बुद्धीन्द्रियाणि मनसा शरीरं वाचमेव हि। नियम्य प्राञ्जलिस्तिष्ठेद्वीक्षमाणो गुरोर्मुखम्॥ १६३॥
नित्यमुद्धृतपाणिः स्यात्साध्वाचारस्तु संयतः। आस्यतामिति चोक्तः सन्नासीताभिमुखं गुरोः॥ १६४॥
वस्त्रवेषैस्तथात्रैस्तु हीनः स्याद्गुरुसन्निधौ। उत्तिष्ठेत्प्रथमं चास्य जघन्यं चापि संविशेत्॥ १६५॥
प्रतिश्रवणसम्भाषे तल्पस्थो न समाचरेत्। न चासीनो न भुञ्जानो न तिष्ठन्न पराङ्मुखः॥ १६६॥

हे कुरुनन्दन! हे महाबाहो! ये सब नियम एवं कर्म ब्राह्मणार्थ कहे गये हैं। विद्वानों में क्षत्रिय तथा वैश्यों हेतु अन्य नियमों को कहा है। गुरु प्रेरित करे अथवा न करे शिष्य अपना मन सर्वदा अध्ययन में लगाये रहे। वह सर्वदा गुरु के कल्याणार्थ भी (उपायों का) चिन्तन करता रहे। बुद्धि, इन्द्रिय, मन, शरीर तथा वाणी पर संयमपूर्वक गुरु की ओर दृष्टि रखकर अंजलिबद्ध होकर गुरु के पास रहने का नियम है। अपना दाहिना हाथ सदा उत्तरीय के बाहर रखना चाहिये और सदैव साधुवत् आचरण सबसे करना चाहिये। शरीर को खुला न रखकर वस्त्र से ढका रखे। जब गुरु बैठ जाने का आदेश करें, तब गुरु की ओर मुख करके बैठना चाहिये। शिष्य को चाहिये कि गुरु के सामने उनसे कम अच्छा वस्त्र पहने, वेश भी उनसे कम अच्छा रखे तथा उनसे कम मात्रा में उनसे कम अच्छा भोजन करे। गुरु के उठने के पूर्व ही खड़ा हो जाये। वे जब बैठ जायें तथा शिष्य को बैठने की आज्ञा दें, तब शिष्य बैठे। जब गुरु उपदेश दे रहे हों अथवा वार्ता कर रहे हों तब उनके साथ वाले आसन अथवा पर्यंक पर न बैठे। बैठकर भोजन करते हुए तथा दूसरी ओर मुँह घुमाकर भी गुरु से वार्ता न करें॥ १६१-१६६॥

आसीनस्य स्थितः कुर्यादभिगच्छंश्च तिष्ठतः। प्रत्युदगन्ता तु व्रजतः पश्चाद्भावंश्च धावतः॥ १६७॥
पराङ्मुखस्याभिमुखो दूरस्थस्यैत्य चान्तिकम्। नमस्कृत्य शयानस्य निदेशे तिष्ठेत्सर्वदा॥ १६८॥
नीचं शय्यासनं चास्य सर्वदा गुरुसन्निधौ। गुरोश्च चक्षुर्विषये न यथेष्टासनो भवेत्॥ १६९॥
नामोच्चारणमेवास्य परोक्षमपि सुव्रत। न चैनमनुकुर्वीत गतिभाषणचेष्टितैः॥ १७०॥
परीवादस्तथा निन्दा गुरोर्यत्र प्रवर्तते। कर्णौ तत्र पिधातव्यो गन्तव्यं वा ततोऽन्यतः॥ १७१॥
परीवादाद्रासभः स्यात्सारमेयस्तु निन्दकः। परिभोक्ता कृमिर्भवति कीटो भवति मत्सरी॥ १७२॥

जब गुरु बैठे हों, तब उनकी अनुमति लेकर ही वार्ता करनी चाहिये। जब गुरु खड़े होकर आज्ञा दे रहे हों, तब दो-चार पग उनकी ओर अग्रसर होकर उनकी आज्ञा सुनें। जब वे कहीं से आये हों तब उनके सामने जाकर उनकी आज्ञा ले तथा बातचीत करे। जब गुरु दौड़ रहे हों, तब उनके पीछे दौड़ते हुये उनकी बातों को सुनना चाहिये। जब गुरु शिष्य से मुँह फेरे हुए कुछ कह

रहे हो, तब स्वयं उनके सामने आये। जब गुरु दूर से कुछ कहें, तब शिष्य उनके निकट जाकर बात करें। जब वे शयनोन्मुख हों, तब प्रणाम करके उनके आदेश का पालन करना चाहिये। गुरु की शय्या से अपनी शय्या सर्वदा निम्न रखे। जहाँ तक गुरु की दृष्टि जा रही हो, वहाँ तक मनमाने तरीके से नहीं बैठना चाहिये। गुरु के नाम का पीठ पीछे भी उच्चारण नहीं करे। उनके चलने, भाषण देने तथा उनकी चेष्टाओं की भी नकल नहीं करनी चाहिये। जहाँ गुरुनिन्दा हो रही हो अथवा उनकी अवमानना के वाक्य कहे जा रहे हों, वहाँ से हट जाये अथवा अपने कानों को बन्द कर ले। गुरु के प्रति अपमानजनक बातें कहने अथवा सुनने से गर्दभ-योनि मिलती है। निन्दक श्वान योनि में जन्म लेता है। गुरु का अन्न खाने वाला कृमि तथा उनके प्रति मत्सर प्रकट करने वाला कीट होता है॥१६७-१७२॥

दूरस्थो नार्चयेदेनं नक्रुद्धो नान्तिके स्त्रियाः। यानासनगतो राजन्नवरुह्याभिवादयेत्॥ १७३॥
प्रतिकूले समाने तु नासीत गुरुणा सह। अशृण्वति गुरौ राजन्न किञ्चिदपि कीर्तयेत् ॥ १७४॥
गोश्रोष्ठ्रयानप्रासादप्रस्तरेषु कटेषु च। आसीत गुरुणा सार्धं शिलाफलकनौषु च॥ १७५॥
गुरोर्गुरौ सन्निहिते गुरुवद्वृत्तिमाचरेत्। गुरुपुत्रेषु चार्येषु गुरोश्चैव स्वबन्धुषु॥ १७६॥
बालः समानजन्मा वा विशिष्टो यज्ञकर्मणि। अध्यापयन्गुरुसुतो गुरुवन्मानमर्हति॥ १७७॥
उत्सादनमथाङ्गानां स्नापनोच्छिष्टभोजने। पादयोर्नेजनं राजन्गुरुपुत्रेषु वर्जयेत्॥ १७८॥

गुरु की पूजा दूर से, क्रोध में रहते अथवा जब वहाँ स्त्री हों न करे। हे राजन्! वाहन तथा आसनादि से नीचे आकर गुरु को प्रणाम करे। गुरु के बराबर अथवा प्रतिकूल (उनकी ओर पीठ करके) न बैठे। जब गुरु का मन अन्य ओर हो तथा जब वे शिष्य की बातें नहीं सुन रहे हों, तब शिष्य उनके समक्ष अपनी बात न रखे। लेकिन बैलगाड़ी, ऊँटगाड़ी, अट्टालिका, पत्थर, शिला, चटाई, तथा नौका पर तो गुरु के ही साथ बैठना ही पड़ेगा। जब गुरु हों तब तो उनके ही साथ गुरुवत् व्यवहार करे। श्रेष्ठ गुरुपुत्र तथा गुरु के परिजनों के साथ भी गुरुवत् व्यवहार करे। गुरु का पुत्र यदि बालक भी है, अथवा समान वय का है, तब भी यज्ञ कर्मार्थ वह शिष्य से श्रेष्ठ माना ही जायेगा। यदि वह अध्यापन करता है, तब तो वह गुरुवत् सम्माननीय माना जायेगा। गुरुपुत्र को स्नान कराना, उसके अंगों में उबटन लगाना, उसके चरण धोना तथा उसका जूठन खाना वर्जित है॥१७३-१७८॥

गुरुवत्प्रतिपूज्यास्तु सवर्णा गुरुयोषितः। असवर्णास्तु सम्पूज्याः प्रत्युत्थानाभिवादयैः॥ १७९॥
अभ्यञ्जनं स स्नपनं गात्रोत्सादनमेव च। गुरुपत्न्या न कार्याणि केशानां च प्रसाधनम्॥ १८०॥
गुरुपत्नी तु युवतीं नाभिवादेत पादयोः। पूर्णविंशतिवर्षेण गुणदोषौ विजानता॥ १८१॥
स्वभाव एव नारीणां नराणामिह दूषणम्। अतोर्थात्र प्रमाद्वन्ति प्रतिपद्य विपश्चितः॥ १८२॥

जो गुरुपत्नी श्रीगुरु के ही वर्ण वाली है, तब वह गुरुवत् पूज्या है। यदि असवर्ण भी है, तब भी उसके लिये उठकर अभ्यर्थना करे तथा उसका सम्मान करे। गुरुपत्नी की मालिश करना, चरण दबाना, स्नान कराना, उबटन लगाना, केश विन्यास करना वर्जित है। यदि गुरु-पत्नी युवा है तब संसार के गुण (त्रिगुण) का दोष जानने वाला युवक शिष्य उसके चरणों को छूकर प्रणाम न करे। दूर से प्रणाम करे। संसार में स्त्री-पुरुष दोनों की स्वभावतः जो प्रवृत्ति है, वह दोषोन्मुखी होती है। अतएव विवेकी एवं बुद्धियुक्त लोग स्त्रीगण के प्रति व्यवहार में सावधान रहते हैं॥१७९-१८२॥

अविद्वांसमलं लोके विद्वांसमपि वा पुनः। प्रमदा ह्युत्पथं नेतुं कामक्रोधवशानुगम्॥ १८३॥
मात्रा स्वस्त्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत्। बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति॥ १८४॥
राजेन्द्र गुरुपत्नीनां युवतीनां युवा भुवि। विधिवद्वन्दनं कुर्यादसावहमिति ब्रुवन्॥ १८५॥
विप्रोऽस्य पादग्रहणमन्वहं चाभिवादनम्। गुरुदारेषु कुर्वति सतां धर्ममनुस्मरन्॥ १८६॥
यथा खनन्खनित्रेण जलमाप्नोति मानवः। तथा गुरुगतां विद्यां शुश्रूषुरधिगच्छति॥ १८७॥

स्त्रीगण काम-क्रोध के वशीभूत होने वाले विद्वान् तथा अविद्वान् सबको विपरीत मार्ग पर ले जाने की शक्ति से युक्त होती हैं। अपनी माता, बहन, कन्या के साथ भी एकान्त में न बैठे। इन्द्रियाँ विद्वानों को भी अपनी ओर आकर्षित करती रहती हैं। हे राजेन्द्र! तभी नियम है कि युवा शिष्य भूमि पर ही सिर झुकाकर दूर से युवती गुरुपत्नियों को प्रणाम करे। प्रवास पर शिष्य सत्पुरुषोचित धर्म का स्मरण करके नित्यप्रति (युवा का नहीं) गुरुपत्नी का पादस्पर्श एवं अभिवादन करे। जैसे खनित्री से सतत खोदते रहने वाला व्यक्ति अन्त में कूप से जल प्राप्त कर ही लेता है, उसी प्रकार गुरुसेवा में लगा व्यक्ति गुरु की समस्त विद्यायें भी प्राप्त कर लेता है॥१८३-१८७॥

मुण्डो वा जटिलो वा स्यादथ वा स्याच्छिखी जटी।

नैनं ग्रामेऽभिनिम्लोचेदको नाभ्युदियात्क्वचित्॥ १८८॥

तं चेदभ्युदियात्सूर्यः शयानं कामकारतः। निम्लोचेद्वाप्यभिज्ञानाज्जपन्नुपवसेदिनम्॥ १८९॥
सूर्येण ह्यभिनिर्मुक्तः शयानोभ्युदितश्च यः। प्रायश्चित्तमकुर्वाणो युक्तः स्यान्महतैनसा॥ १९०॥
उपस्पृश्य महाराज उभे सन्ध्ये समाहितः। शुचौ देशे जपञ्जप्यमुपासीत यथाविधि॥ १९१॥
यदि स्त्री यद्यवरजः श्रेयः किञ्चित्समाचरेत्। तत्सर्वमाचरेद्युक्तो यत्र वा रमते मनः॥ १९२॥
धर्मार्थावुच्यते श्रेयः कामार्थो धर्ममेव च। अर्थ एवेह वा श्रेयस्त्रिवर्ग इति संस्थितिः॥ १९३॥

मुण्डी, जटाधारी, अथवा जटा की शिखा वाला ब्रह्मचारी जब ग्राम में शयन करे तब उसे सूर्योदय अथवा सूर्यास्त दर्शन नहीं करना चाहिये। यदि इस नियम को जानने पर भी शयनरत रहते ही सूर्य उदित अथवा अस्त हो जाते हैं (अर्थात् व्यक्ति सूर्योदय तथा सूर्यास्त में भी निद्रित रह जाये) तब वह व्यक्ति समस्त दिन उपवासी रहकर जप करे। अन्यथा वह व्यक्ति महान् पाप से युक्त हो जायेगा। हे महाराज! संयत मन से दोनों सन्ध्याकालों में विधिवत् पवित्र स्थान में आसीन होकर आचमनोपरान्त जप तथा उपासना करे। यदि स्त्री कोई श्रेयपूर्ण कार्य करती है, वह उस कार्य को स्वयं सम्पन्न करे अथवा जहाँ मत समाहित हो वह करे। कुछ के मत से धर्म-अर्थ श्रेय है। किसी के मत से काम एवं अर्थ श्रेय है। किसी की दृष्टि में अर्थ ही श्रेय है। धर्म, अर्थ, काम ही त्रिवर्ग है॥१८८-१९३॥

पिता माता तथा भ्राता आचार्याः कुरुनन्दन। नार्तेनाप्यवमन्तव्या ब्राह्मणेन विशेषतः॥ १९४॥
आचार्यो ब्रह्मणो मूर्तिः पिता मूर्तिः प्रजापतेः। माताप्यथादितेमूर्तिर्भ्राता स्यान्मूर्तिरात्मनः॥ १९५॥
यन्माता पितरौ क्लेशं सहेते सम्भवे नृणाम्। न तस्य निष्कृतिः शक्या कर्तुं वर्षशतैरपि॥ १९६॥
तयोर्नित्यं प्रियं कुर्यादाचार्यस्य च भारत। तेषु हि त्रिषु तुष्टेषु तपः सर्वं समाप्यते॥ १९७॥
तेषां त्रयाणां शुश्रूषा परमं तप उच्यते। न तैरनभ्यनुज्ञातो धर्ममन्यं समाचरेत्॥ १९८॥

हे कुरुनन्दन! पिता, माता, भ्राता, आचार्य का अपमान अत्यधिक आर्तावास्था में भी न करें। ब्राह्मणार्थ यह नियम विशेष रूप से पालनीय है। आचार्य ब्रह्मा है, पिता प्रजापति है तथा माता अदिति है। भाई तो स्वयं का मूर्तिरूप है, व्यक्ति की उत्पत्ति आदि में माता एवं पिता वेदना एवं कष्ट सहते हैं। उसका बदला कोई सैकड़ों वर्ष में भी नहीं चुका सकता। हे भारत! मनुष्य इसी कारण से सदैव माता, पिता, आचार्य का हित-साधन करता रहे। ये तीनों सन्तुष्ट हैं तब सभी तप पूर्ण हो जाते हैं। इन तीनों की सेवा ही परमतप है, किसी अन्य धर्म का पालन करना कदापि उचित नहीं है॥१९४-१९८॥

त एव हि त्रयो लोकास्त एव त्रय आश्रमाः। त एव च त्रयो वेदास्त एवोक्तास्त्रयोऽग्नयः॥ १९९॥
माता वै गार्हपत्याग्निः पिता वै दक्षिणः स्मृतः। गुरुराहवनीयश्च साग्नित्रेता गरीयसी॥ २००॥
त्रिषु तुष्टेषु चैतेषु त्राल्लोकाञ्जयते गृही। दीप्यमानः स्ववपुषा देववद्विव मोदते॥ २०१॥

इमं लोकं पितृभक्त्या मातृभक्त्या तु मध्यमम्। गुरुशुश्रूषया चैव गच्छेच्छक्रसलोकताम्॥ २०२॥
सर्वे तेनादृता धर्मा यस्यैते त्रय आदृताः। अनादृतास्तु येनैते सर्वास्तस्याफलाः क्रियाः॥ २०३॥

ये तीनों ही लोकत्रय, आश्रमत्रय तथा अग्नित्रय (गार्हपत्य, दाक्षिणाग्नि तथा आहवनीय) हैं। जैसे माता ही गार्हपत्याग्नि है। पिता दाक्षिणाग्नि तथा आचार्य ही आहवनीय अग्नि है। ये अग्नित्रय अत्यन्त गरीयसी हैं। जो गृहस्थ इन तीन को (माता, पिता, आचार्य को तथा अग्नित्रय को) सन्तोष प्रदान करता है, वह लोकत्रय पर विजय प्राप्त कर लेता है। वह दिव्य देह कान्ति के द्वारा देवलोक में देवगण के समान मुदित होता है। पिता की भक्ति से यह लोक, माता की भक्ति से अन्तरिक्ष लोक तथा आचार्य भक्ति से इन्द्रलोक में स्थिति हो जाती है। इन तीनों का आदर करने वाले ने तो सर्वधर्म समूह का आदर कर लिया। इन तीन का अनादर करने वाले के लिये समस्त क्रियायें निष्फलीभूत हैं॥१९९-२०३॥

यावत्त्रयस्ते जीवेयुस्तावन्नान्यत्समाचरेत्। तेष्वेव नित्यं शुश्रूषां कुर्यात्प्रियहिते रतः॥ २०४॥
तेषामनुपरोधेन पार्थक्यं यद्यदाचरेत्। तत्तन्निवेदयेत्तेभ्यो मनोवचनकर्मभिः॥ २०५॥
त्रिष्वेतेष्विति कृत्यं हि पुरुषस्य समाप्यते। एष धर्मः परः साक्षादुपधर्मोऽन्य उच्यते ॥ २०६॥

इन तीनों के जीवित रहते इनकी ही आराधना (सेवा आदि) करे। तब तक अन्य धर्म का पालन करना उचित नहीं है। सदा इनके हित का कार्य तथा सेवा करता रहे। यदि इनकी अनुमति लेकर यदि कोई आराधना आदि कार्य किया भी जाये, तब उस सब कर्म को मनसा, वाचा, कर्मणा इनको अर्पित कर देना चाहिये। गृहस्थ के सभी कर्मों का समापन इन तीनों की सेवा से हो जाता है। यही परमधर्मरूप कहा गया है। शेष सब धर्म न होकर उपधर्म ही हैं॥२०४-२०६॥

श्रद्धाधानः शुभां विद्यामाददीतावरादपि। अन्त्यादपि परं धर्मं स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपि॥ २०७॥
विषादप्यमृतं ग्राह्यं बालादपि सुभाषितम्। अमित्रादपि सद्वृत्तममेध्यादपि काञ्चनम्॥ २०८॥
स्त्रियो रत्नं नयो विद्या धर्मः शौचं सुभाषितम्। विविधानि च शिल्पानि समादेयानि सर्वशः॥ २०९॥

यदि अपनी कोटि से निम्न कोटि वाले के पास भी शुभ विद्या है, तब उससे भी वह विद्या श्रद्धाभाव से गृहीत की जा सकती है। यदि शूद्र भी कोई उत्तम धर्म का ज्ञाता है, तब वह उत्तम धर्म उससे ग्रहण करे। दुष्ट कुल से भी स्त्रीरूपी रत्न ले सकते हैं। यदि विष में भी अमृत (हितकारी तत्व) है, तब वहाँ से उसे ग्रहण करे। यदि कोई बालक हितकर तथा सत्य बात कहता है, तब उसे भी सादर ग्रहण कर लेना अनुचित नहीं है। यदि शत्रु से भी सदाचरण सीखने को मिलता है, तब वह ग्रहण करे। जैसे अपवित्र स्थल पर भी यदि स्वर्ण पड़ा हो, उसे ग्रहण कर लेना उचित है। स्त्री, रत्न, नीति, विद्या, पवित्रता, धर्म, सुभाषित तथा विविध शिल्प कर्म को कहीं से भी ग्रहण करे॥२०७-२०९॥

अब्राह्मणादध्ययनमाप्तकाले विधीयते। अनुब्रज्या च शुश्रूषा यावदध्ययनं गुरोः॥ २१०॥
नाब्राह्मणे गुरौ शिष्यो वासमात्यन्तिकं वसेत्। ब्राह्मणे चाननूचाने कांक्षनातिमनुत्तमाम्॥ २११॥
यदि त्वात्यन्तिको वासो रोचते च गुरोः कुले। युक्तः परिचरेदेनमाशरीरविमोक्षणात्॥ २१२॥
आ समाप्तेः शरीरस्य यस्तु शुश्रूषते गुरुम्। स गच्छत्यञ्जसा विप्रो ब्राह्मणः सद्यः शाश्वतम्॥ २१३॥
न पूर्वं गुरवे किञ्चिदुपकुर्वीत धर्मवित्। स्नानाय गुरुणाज्ञप्तः शक्त्या गुर्वर्थमाहरेत्॥ २१४॥
क्षेत्रं हिरण्यं गामश्च छत्रोपानहमेव च। धान्यं वासांसि शाकं वा गुरवे प्रीतमाहरेत्॥ २१५॥

जब आपत्ति हो तथा अध्यापनार्थ सद् ब्राह्मण न मिले, तब अब्राह्मण से भी अध्ययन करे। तब तक उनकी भी सेवाशुश्रूषा करता रहे। जहाँ कोई ब्राह्मण वेद पारंगत नहीं है, लेकिन शिष्य वेदाध्ययन से परमगति प्राप्ति की उत्कट इच्छा वाला है, तब वह अब्राह्मण से शिक्षा ले सकता है तथापि उसके समीप सर्वदा निवास न करे। यदि शिष्य ब्राह्मणगुरु के ही कुल में सदैव रहना चाहे

तब नियम यह है कि वह शरीरत्याग पर्यन्त उनकी निष्ठा एवं भक्ति से सेवा करता वहीं रहे। जो द्विज शिष्य अपने देहत्याग पर्यन्त गुरु की सेवा में लगा रहता है, वह शाश्वत ब्रह्मपद को शीघ्र पा लेता है। जो धर्ममर्यादा का ज्ञाता शिष्य है, वह अध्ययन की समाप्ति के पूर्व गुरु के प्रति उपकार न करे। वह दीक्षा स्नान की अनुमति प्राप्त कर लेने पर उनको यथाशक्ति दक्षिणा प्रदान करे। खेत, स्वर्ण, गौ, अश्व, छत्र, जूता, धान्य, वस्त्र, शाकादि को गुरु की प्रसन्नता हेतु अर्पित करे॥२१०-२१५॥

स्वर्गते गां परित्यज्य गुरौ भरतसत्तम। गुणान्विते गुरुमुते गुरुदारेऽथ वा नृप॥

सपिण्डे वा गुरोश्चापि गुरुवद्वृत्तिमाचरेत्॥ २१६॥

एतेष्वविद्यमानेषु स्थानासनविहारवान्। प्रयुञ्जानोऽग्निशुश्रूषां साधयेद्देहमात्मनः॥

वीरस्य कुर्वञ्छुश्रूषां याति वीरसलोकताम्॥ २१७॥

हे भरतकुल श्रेष्ठ! जब गुरु पृथिवी त्यागकर स्वर्गगामी हो जायें, तब गुणी गुरुपुत्र, गुरुपत्नी तथा गुरु के गोत्र वालों सपिण्डजों के साथ भी गुरुवत् व्यवहार करे। जब ये सब कोई न मिले तब सम्यक् पवित्र स्थान-आसन तथा विहार से युक्त होकर अग्नि सेवा करता हुआ शरीर से उचित साधन करना चाहिये। वीर की सेवा से ही वीरत्व मिलता है॥२१६-२१७॥

चरत्येवं हि यो विप्रो ब्रह्मचर्यमविप्लुतः। स गत्वा ब्रह्मसदनं ब्रह्मणा सह मोदते॥ २१८॥

इत्येष कथितो धर्मः प्रथमं ब्रह्मचारिणः। गृहस्थस्यापि राजेन्द्र शृणु धर्ममशेषतः॥ २१९॥

काले प्राप्य व्रतं विप्र ऋतुयोगेन भारत। प्रपालयन्व्रतं याति ब्रह्मसालोक्यतां विभो॥ २२०॥

इन नियमों के अनुसार जो विप्र अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन करता है, वह ब्रह्मलोक जाकर ब्रह्मा के साथ आनन्द प्राप्त करता है। मैंने ब्रह्मचारी के धर्म का वर्णन कर दिया। हे राजेन्द्र! अब गृहस्थाश्रमी के धर्म को सुनें। हे भारत! हे विभो! पूर्वोक्त प्रकार से उचित काल तथा ऋतुकाल के समय ब्रह्मचर्यादि व्रत का पालन करके व्यक्ति ब्रह्मलोक प्राप्त करता है॥२१८-२२०॥

सदोपनयनं शस्तं वसन्ते ब्राह्मणस्य तु। क्षत्रियस्य ततो ग्रीष्मे प्रशस्तं मनुब्रवीत्॥ २२१॥

प्राप्ते शरदि वैश्यस्य सदापनयनं परम्। इत्येष त्रिविधः कालः कथितो व्रतयोजने॥ २२२॥

॥ इति श्रीभविष्यमहापुराणे शतार्धसाहस्र्यां संहितायां ब्राह्मे पर्वणि

उपनयनविधिवर्णनं नाम चतुर्थोऽध्यायः॥४॥

ब्राह्मण हेतु यज्ञोपवीत का काल वसन्त ऋतु प्रशस्त है। मनु द्वारा क्षत्रियों के यज्ञोपवीत का काल ग्रीष्म ऋतु श्रेष्ठ कहा गया है। वैश्य हेतु शरद ऋतु का काल यज्ञोपवीतार्थ उचित है। इस संस्कार के लिये इन तीन वर्णों के ये तीन काल निश्चित किये गये हैं॥२२१-२२२॥

॥ श्रीभविष्यमहापुराण में शतार्ध साहस्री नामक संहिता के ब्राह्मपर्व में

उपनयनविधि का वर्णन नामक चौथा अध्याय पूर्ण हुआ॥ ४ ॥

★★★